॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः
(सोलहवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

अभयम् = भयका सर्वथा अभाव, **सत्त्वसंशुद्धिः** = अन्तःकरणकी अत्यन्त शुद्धि, **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः** = ज्ञानके लिये योगमें दृढ़ स्थिति, **च** = और, **दानम्** = सात्त्विक दान, **दमः** = इन्द्रियोंका दमन, **यज्ञः** = यज्ञ, **स्वाध्यायः** = स्वाध्याय, **तपः** = कर्तव्य-पालनके लिये कष्ट सहना **च** = और **आर्जवम्** = शरीर-मन-वाणीकी सरलता।

~~~

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

अहिंसा = अहिंसा, **सत्यम्** = सत्यभाषण, **अक्रोधः** = क्रोध न करना, **त्यागः** = संसारकी कामनाका त्याग, **शान्तिः** = अन्तःकरणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना, **अपैशुनम्** = चुगली न करना, **भूतेषु** = प्राणियोंपर **दया** = दया करना, **अलोलुप्त्वम्** = सांसारिक विषयोंमें न ललचाना, **मार्दवम्** = अन्तःकरणकी कोमलता, **ह्रीः** = अकर्तव्य करनेमें लज्जा, **अचापलम्** = चपलताका अभाव।

~~~

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

तेजः = तेज (प्रभाव), **क्षमा** = क्षमा, **धृतिः** = धैर्य, **शौचम्** = शरीरकी शुद्धि, **अद्रोहः** = वैरभावका न होना (और) **नातिमानिता** = मानको न चाहना, **भारत** = हे भरतवंशी अर्जुन! (ये सभी) **दैवीम्** = दैवी **सम्पदम्** = सम्पदाको **अभिजातस्य** = प्राप्त हुए मनुष्यके (लक्षण) **भवन्ति** = हैं।

~~~
~~~

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**क्रोधः**	=क्रोध करना	**एव**	=भी—(ये सभी)
दम्भः	=दम्भ करना,	**च**	=तथा	**आसुरीम्**	=आसुरी
दर्पः	=घमण्ड करना	**पारुष्यम्**	=कठोरता रखना	**सम्पदम्**	=सम्पदाको
च	=और	**च**	=और	**अभिजातस्य**	=प्राप्त हुए मनुष्यके (लक्षण) हैं।
अभिमानः	=अभिमान करना,	**अज्ञानम्**	=अविवेकका होना		

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी	=दैवी	**निबन्धाय**	=बन्धनके लिये	**अभिजातः**	=प्राप्त हुए
सम्पत्	=सम्पत्ति	**मता**	=मानी गयी है।	**असि**	=हो, (इसलिये तुम)
विमोक्षाय	=मुक्तिके लिये (और)	**पाण्डव**	=हे पाण्डव! (तुम)		
		दैवीम्	=दैवी	**मा, शुचः**	=शोक (चिन्ता) मत करो।
आसुरी	=आसुरी सम्पत्ति	**सम्पदम्**	=सम्पत्तिको		

विशेष भाव—जीवके एक ओर भगवान् हैं और एक ओर संसार है। जब वह भगवान्‌की ओर चलता है, तब उसमें दैवी सम्पत्ति आती है और जब वह संसारकी ओर चलता है, तब उसमें आसुरी सम्पत्ति आती है। दैवी सम्पत्तिमें आस्तिक भाव रहता है और आसुरी सम्पत्तिमें नास्तिक भाव रहता है। यद्यपि मुक्तिके सभी साधन (कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि) दैवी सम्पत्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**', तथापि दैवी सम्पत्तिमें मुख्यता भक्तिकी ही है। इसीलिये भगवान्‌ने भक्तिके प्रकरणमें कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९। १३)

'हे पृथानन्दन! दैवी प्रकृतिके आश्रित अनन्यमनवाले महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी समझकर मेरा भजन करते हैं।'

आगे भी भगवान्‌ने कहा है—'**मामप्राप्यैव कौन्तेय**.........' (१६। २०)। भक्तिके अन्तर्गत मुक्तिके सभी साधन आ जाते हैं। जिनको अपने प्राणोंसे प्यार होता है, वे प्राणपोषणपरायण मनुष्य आसुरी सम्पत्तिवाले होते हैं। परन्तु जो भगवान्‌को अपने प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा मानते हैं, वे दैवी सम्पत्तिवाले होते हैं।

दूसरोंके सुखके लिये कर्म करना अथवा दूसरोंका सुख चाहना 'चेतनता' है और अपने सुखके लिये कर्म करना अथवा अपना सुख चाहना 'जड़ता' है। भजन-ध्यान भी अपने सुखके लिये, शरीरके आराम, मान-आदरके लिये करना जड़ता है। चेतनताकी मुख्यतासे दैवी सम्पत्ति आती है और जड़ताकी मुख्यतासे आसुरी सम्पत्ति आती है।

मूल दोष एक ही है, जिससे सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति पैदा होती है और मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण दैवी सम्पत्ति प्रकट होती है। मूल दोष है—शरीर तथा संसारकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उससे सम्बन्ध जोड़ना। मूल गुण है—भगवान्‌की सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनसे सम्बन्ध जोड़ना। यह मूल दोष और मूल गुण ही स्थानभेदसे अनेक रूपोंमें दीखता है।

जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तभीतक गुणोंकी महत्ता दीखती है और उनका अभिमान होता है।

कोई भी अवगुण न रहे तो अभिमान नहीं होता। अभिमान आसुरी सम्पत्तिका मूल है। अभिमानके कारण मनुष्यको दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखने लगती है—यह आसुरी सम्पत्ति है। अभिमान होनेके कारण दैवी सम्पत्ति भी आसुरी सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली बन जाती है। जब गुणोंके साथ अवगुण नहीं रहते, तब गुणोंकी महत्ता नहीं दीखती और उनका अभिमान नहीं होता। गुणोंकी महत्ता न दीखनेसे साधककी दृष्टि अपने गुणोंकी तरफ नहीं जाती, जिससे वह घबरा जाता है*। अपने गुणोंकी तरफ दृष्टि न जानेसे ही अर्जुन घबरा जाते हैं कि मेरेमें दैवी सम्पत्ति है ही नहीं! ऐसी दशामें उनकी चिन्ताको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं—'**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव**'।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

अस्मिन्	= इस	**दैवः**	= दैवी	**प्रोक्तः**	= कह दिया, (अब)
लोके	= लोकमें	**च**	= और	**पार्थ**	= हे पार्थ! (तुम)
द्वौ	= दो तरहके	**आसुरः**	= आसुरी।	**मे**	= मुझसे
एव	= ही	**दैवः**	= दैवीको तो (मैंने)	**आसुरम्**	= आसुरीको (विस्तारसे)
भूतसर्गौ	= प्राणियोंकी सृष्टि है—	**विस्तरशः**	= विस्तारसे	**शृणु**	= सुनो।

विशेष भाव—दैवी और आसुरी—यह दो तरहके प्राणियोंकी सृष्टि मनुष्यलोकमें होनेसे लौकिक है। अलौकिक तत्त्वमें ये दोनों ही नहीं हैं। साधन भी लौकिक और अलौकिक दोनों होते हैं, पर साध्य अलौकिक ही होता है। अलौकिक तत्त्व व्यापक, अनन्त-अपार है। लौकिक भी उसीके अन्तर्गत है। वास्तवमें लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। सब कुछ अलौकिक ही है। जीवने ही लौकिकको धारण किया है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। तात्पर्य है कि जबतक जीवकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तभीतक 'लौकिक' है। संसारकी सत्ता न रहनेपर सब 'अलौकिक' ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**', '**सदसच्चाहम्**'।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

आसुराः	= आसुरी प्रकृतिवाले	**न**	= नहीं	**आचारः**	= श्रेष्ठ आचरण
जनाः	= मनुष्य	**विदुः**	= जानते	**च**	= तथा
प्रवृत्तिम्	= किसमें प्रवृत्त होना चाहिये	**च**	= और	**न**	= न
		तेषु	= उनमें		
च	= और	**न**	= न तो	**सत्यम्**	= सत्य-पालन
निवृत्तिम्	= किससे निवृत्त होना चाहिये (—इसको)	**शौचम्**	= बाह्य शुद्धि,	**अपि**	= ही
		न	= न	**विद्यते**	= होता है।

* एक बार एक साधु बड़े व्याकुल होकर बोले कि गीतामें मेरी श्रद्धा नहीं है, मेरी क्या दशा होगी! क्योंकि भगवान्ने कहा है—'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' (४। ४०)। मैंने कहा कि श्रद्धा न करनेवालेका नाश हो जाता है—यह बात लिखी किसमें है? वे बोले—गीतामें। मैंने कहा कि गीतामें लिखी बातसे आपको घबराहट हुई तो यह गीतापर श्रद्धा नहीं तो क्या है? यह बात सुनते ही वे प्रसन्न हो गये!

विशेष भाव—ज्यों-ज्यों आसुरी सम्पत्ति आती है, त्यों-त्यों विवेक लुप्त होता जाता है। भोगोंके परायण होनेसे आसुर मनुष्य 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इसको नहीं जान सकते। उनकी निष्ठा तो लौकिक भी नहीं होती, अलौकिक तो दूर रही! उनकी निष्ठा नरकोंमें ले जानेवाली होती है।

आसुर मनुष्य पिण्डप्राणपोषणपरायण होते हैं। इसलिये वे केवल अपना सुख-आराम, अपना स्वार्थ देखते हैं। जिससे अपनेको सुख मिलता दीखे, उसीमें उनकी प्रवृत्ति होती है और जिससे दु:ख मिलता दीखे, स्वार्थ सिद्ध होता न दीखे, उसीसे उनकी निवृत्ति होती है। वास्तवमें प्रवृत्ति और निवृत्तिमें शास्त्र ही प्रमाण है (गीता १६। २४); परन्तु अपने शरीर और प्राणोंमें मोह रहनेके कारण आसुर मनुष्योंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्रको लेकर नहीं होती। आसुर स्वभावके कारण वे शास्त्रकी बात सुनते ही नहीं और अगर सुन भी लें तो उसको समझ सकते ही नहीं—'**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः**' (गीता १५। ११)।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

ते =वे
आहुः =कहा करते हैं कि
जगत् =संसार
असत्यम् =असत्य,
अप्रतिष्ठम् =बिना मर्यादाके (और)
अनीश्वरम् =बिना ईश्वरके
अपरस्परसम्भूतम् = अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे पैदा हुआ है।
कामहैतुकम् = (इसलिये) काम ही इसका कारण है,
अन्यत् =इसके सिवाय और
किम् =क्या कारण है? (और कारण हो ही नहीं सकता।)

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

एताम् =इस (पूर्वोक्त)
दृष्टिम् =(नास्तिक) दृष्टिका
अवष्टभ्य =आश्रय लेनेवाले
नष्टात्मानः =जो मनुष्य अपने नित्य स्वरूपको नहीं मानते,
अल्पबुद्धयः = जिनकी बुद्धि तुच्छ है,
उग्रकर्माणः =जो उग्र कर्म करनेवाले (और)
जगतः =संसारके
अहिताः = शत्रु हैं,
क्षयाय, प्रभवन्ति = उन मनुष्योंकी सामर्थ्यका उपयोग जगत्‌का नाश करनेके लिये ही होता है।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

दुष्पूरम् =कभी पूरी न होनेवाली
कामम् =कामनाओंका
आश्रित्य =आश्रय लेकर
दम्भमानमदान्विताः=दम्भ, अभिमान और मदमें चूर रहनेवाले (तथा)
अशुचिव्रताः = अपवित्र व्रत धारण करनेवाले मनुष्य
मोहात् = मोहके कारण
असद्ग्राहान् = दुराग्रहोंको
गृहीत्वा = धारण करके
प्रवर्तन्ते = (संसारमें) विचरते रहते हैं।

विशेष भाव—'काममाश्रित्य दुष्पूरम्'—तीसरे अध्यायमें भी भगवान्‌ने कहा है कि यह काम बहुत खानेवाला है—**'महाशनः'** (३। ३७) और अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाला है—**'दुष्पूरेणानलेन च'** (३। ३९)। इसलिये सभी कामनाओंकी पूर्ति कभी सम्भव नहीं है। अतः कामनापूर्ति ही जिनका उद्देश्य है, उनको कभी शान्ति नहीं मिलती। कामनापूर्तिमें महान् परतन्त्रता है, पर आसुर मनुष्य इस परतन्त्रतामें भी स्वतन्त्रताका अनुभव करते हैं कि धनादि पदार्थ मिल जायँगे तो हम स्वतन्त्र हो जायँगे। वे शास्त्र, गुरु, ईश्वर, धर्म आदिको मानते ही नहीं, फिर कामके सिवाय और किसका आश्रय लें?

~~~

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

प्रलयान्ताम्	=(वे) मृत्युपर्यन्त रहनेवाली	**कामोपभोगपरमाः**	= पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहनेवाले	**एतावत्**	='जो कुछ है, वह इतना ही है'—
अपरिमेयाम्	=अपार			**इति**	=ऐसा
चिन्ताम्	=चिन्ताओंका			**निश्चिताः**	=निश्चय करनेवाले होते हैं।
उपाश्रिताः	=आश्रय लेनेवाले,	**च**	= और		

विशेष भाव—भोग और संग्रहमें लगा हुआ मनुष्य अन्धा हो जाता है। वह न तो संसारको जान सकता है और न परमात्माको ही जान सकता है। अस्वाभाविकमें स्वाभाविक बुद्धि होनेके कारण उसकी दृष्टि परमात्माकी तरफ जा ही नहीं सकती। वह अस्वाभाविक संसारको ही सच्चा मानता है।

वस्तुएँ विनाशी हैं, आप अविनाशी है, फिर पूर्ति कैसे हो? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी पूर्ति कैसे हो सकती है?

~~~

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

आशापाशशतैः	= (वे) आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे	**कामक्रोधपरायणाः**	= काम-क्रोधके परायण होकर	**अन्यायेन**	=अन्यायपूर्वक
				अर्थसञ्चयान्	=धन-संचय करनेकी
बद्धाः	=बँधे हुए मनुष्य	**कामभोगार्थम्**	= पदार्थोंका भोग करनेके लिये	**ईहन्ते**	=चेष्टा करते रहते हैं।

विशेष भाव—'आशापाशशतैर्बद्धाः'—यहाँ **'शतैः'** पद अनन्तका वाचक है। जबतक संसारके साथ सम्बन्ध है, तबतक कामनाओंका अन्त नहीं आता। दूसरे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें आया है—**'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'** 'अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली ही होती हैं।' कारण कि उन्होंने अविनाशीसे विमुख होकर नाशवान्‌को सत्ता और महत्ता दे दी तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया।

'कामक्रोधपरायणाः'—आसुर स्वभाववाले लोग काम और क्रोधको स्वाभाविक मानते हैं। काम और क्रोधके सिवाय उनको और कुछ दीखता ही नहीं, इनसे आगे उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। यही उनके परम अयन अर्थात् स्थान हैं।

मनुष्य समझता है कि क्रोध करनेसे दूसरा हमारे वशमें रहेगा। परन्तु जो मजबूर, लाचार होकर हमारे वशमें हुआ है, वह कबतक वशमें रहेगा? मौका पड़ते ही वह घात करेगा। अतः क्रोधका परिणाम बुरा ही होता है।

~~~
~~~

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

वे इस प्रकारके मनोरथ किया करते हैं कि—

इदम्	=इतनी वस्तुएँ तो	**मनोरथम्**	=मनोरथको	**अस्ति**	=है ही,
मया	=हमने	**प्राप्स्ये**	=प्राप्त (पूरा) कर लेंगे।	**इदम्**	=इतना (धन)
अद्य	=आज				
लब्धम्	=प्राप्त कर लीं (और अब)	**इदम्**	=इतना	**पुनः**	=फिर
		धनम्	=धन तो	**अपि**	=भी
इमम्	=इस	**मे**	=हमारे पास	**भविष्यति**	=हो जायगा।

विशेष भाव—यहाँ भगवान् ग्यारहवें श्लोकमें कहे '**कामोपभोगपरमाः**' पदकी व्याख्या करते हैं।

~~~

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

असौ	=वह	**अपि**	=भी (हम)	**अहम्**	=हम
शत्रुः	=शत्रु तो	**हनिष्ये**	=मार डालेंगे।	**सिद्धः**	=सिद्ध हैं।
मया	=हमारे द्वारा	**अहम्**	=हम		
हतः	=मारा गया	**ईश्वरः**	=ईश्वर (सर्वसमर्थ) हैं।	**बलवान्**	=(हम) बड़े बलवान् (और)
च	=और				
अपरान्	=(उन) दूसरे शत्रुओंको	**अहम्**	=हम		
		भोगी	=भोग भोगनेवाले हैं।	**सुखी**	=सुखी हैं।

विशेष भाव—यहाँ भगवान् बारहवें श्लोकमें कहे '**कामक्रोधपरायणाः**' पदकी व्याख्या करते हैं।

आसुर स्वभाववाले मनुष्योंमें 'हम सुखी हैं'—यह केवल अभिमान होता है। वास्तवमें वे सुखी नहीं होते। सुखी वास्तवमें वही है, जिसपर अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर नहीं पड़ता।*

आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके पास काम और क्रोधका ही बल होता है। वे नाशवान्के सम्बन्धसे अपनेको बलवान् मानते हैं। हिरण्यकशिपु आदिकी तरह वे अपनेको ही सर्वोपरि मानते हैं; क्योंकि दूसरे लोग उनको निकृष्ट दीखते हैं।

~~~

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

---

* **शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।**
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ (गीता ५। २३)

'इस मनुष्यशरीरमें जो मनुष्य शरीर छूटनेसे पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ होता है, वह नर योगी है और वही सुखी है।'

आढ्यः	= हम धनवान् हैं,
अभिजनवान्, अस्मि	= बहुत-से मनुष्य हमारे पास हैं,
मया	= हमारे
सदृशः	= समान
अन्यः	= दूसरा
कः	= कौन
अस्ति	= है ?
यक्ष्ये	= (हम) खूब यज्ञ करेंगे,
दास्यामि	= दान देंगे (और)
मोदिष्ये	= मौज करेंगे—
इति	= इस तरह (वे)
अज्ञानविमोहिताः	= अज्ञानसे मोहित रहते हैं।

~~~

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

अनेकचित्तविभ्रान्ताः	= (कामनाओंके कारण) तरह-तरहसे भ्रमित चित्तवाले,
मोहजालसमावृताः	= मोह-जालमें अच्छी तरहसे फँसे हुए (तथा)
कामभोगेषु	= पदार्थों और भोगोंमें
प्रसक्ताः	= अत्यन्त आसक्त रहनेवाले मनुष्य
अशुचौ	= भयंकर
नरके	= नरकोंमें
पतन्ति	= गिरते हैं।

विशेष भाव—वास्तवमें आसुर मनुष्य कामक्रोधपरायण होनेके कारण पहलेसे ही नरकमें पड़े हैं और अभावरूपी अग्निमें जल रहे हैं। परिणाममें उनको भयंकर नरकोंकी प्राप्ति होती है।

ऊँचे लोकोंमें अथवा नरकोंमें जानेमें पदार्थ और क्रिया मुख्य कारण नहीं हैं, प्रत्युत भाव मुख्य कारण है। भावका विशेष मूल्य है। जैसा भाव होता है, वैसी क्रिया अपने-आप होती है। इसलिये भगवान्ने आसुर मनुष्योंके भावों (मनोरथ आदि) का वर्णन किया है।

~~~

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

आत्मसम्भाविताः	= अपनेको सबसे अधिक पूज्य माननेवाले,
स्तब्धाः	= अकड़ रखनेवाले (तथा)
धनमानमदान्विताः	= धन और मानके मदमें चूर रहनेवाले
ते	= वे मनुष्य
दम्भेन	= दम्भसे
अविधिपूर्वकम्	= अविधिपूर्वक
नामयज्ञैः	= नाममात्रके यज्ञोंसे
यजन्ते	= यजन करते हैं।

विशेष भाव—आसुर स्वभाववाले मनुष्य दूसरोंसे प्रतिस्पर्धा रखते हैं और इसलिये यज्ञ करते हैं कि दूसरोंकी अपेक्षा हमारेमें कोई कमी न रह जाय, कोई हमारेको यज्ञ करनेवालोंकी अपेक्षा नीचा न मान ले। वे केवल लोगोंमें अपनी प्रसिद्धि करनेके लिये यज्ञ करते हैं, फलपर विश्वास नहीं रखते। दूसरा व्यक्ति यज्ञ करता है तो वे ऐसा समझते हैं कि वह भी अपनी प्रसिद्धिके लिये ही यज्ञ करता है। ईश्वर और परलोकपर विश्वास न होनेके कारण उनकी दृष्टि विधिपर नहीं रहती। विधिका विचार वही करते हैं, जो ईश्वर और परलोकको मानते हैं कि अमुक कर्मका अमुक फल होगा।

आसुर मनुष्योंकी सब चेष्टाएँ दिखावटी होती हैं। परन्तु उनके भीतरमें अभिमान होता है कि हम दूसरोंसे भी बढ़िया यज्ञ करेंगे। उनमें अपनी जानकारीका भी अभिमान होता है कि हम समझदार हैं, दूसरे सब मूर्ख हैं, समझते नहीं। वास्तवमें उनमें कोरी मूर्खता भरी होती है।

~~~
~~~

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

अहङ्कारम्	=(वे) अहंकार,	**क्रोधम्**	=क्रोधका	**माम्**	=मुझ अन्तर्यामीके साथ
बलम्	=हठ,	**संश्रिताः**	=आश्रय लेनेवाले मनुष्य	**प्रद्विषन्तः**	=द्वेष करते हैं (तथा)
दर्पम्	=घमण्ड,			**अभ्यसूयकाः**	= (मेरे और दूसरोंके गुणोंमें) दोषदृष्टि रखते हैं।
कामम्	=कामना	**आत्मपरदेहेषु**	= अपने और दूसरोंके शरीरमें (रहनेवाले)		
च	=और				

विशेष भाव—आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य अपनी जिदपर पक्के रहते हैं और अपनी बातको ही सच्चा मानते हैं। यह सिद्धान्त है कि जो खुद दुःखी होता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। आसुर मनुष्य खुद दुःखी रहते हैं, इसलिये वे दूसरोंको भी दुःख देते हैं। उनको कहीं भी गुण नहीं दीखता, प्रत्युत दोष-ही-दोष दीखते हैं। उनकी ऐसी मान्यता होती है कि सब अच्छाई हमारेमें ही है। उनको संसारमें कोई अच्छा आदमी दीखता ही नहीं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

तान्	=उन	**नराधमान्**	=महान् नीच,	**आसुरीषु**	=आसुरी
द्विषतः	=द्वेष करनेवाले,	**अशुभान्**	=अपवित्र मनुष्योंको	**योनिषु**	=योनियोंमें
क्रूरान्	=क्रूर स्वभाववाले (और)	**अहम्**	=मैं	**एव**	=ही
संसारेषु	=संसारमें	**अजस्रम्**	=बार-बार	**क्षिपामि**	=गिराता रहता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**जन्मनि, जन्मनि**	= जन्म-जन्मान्तरमें		अधिक
मूढाः	=(वे) मूढ़ मनुष्य	**आसुरीम्**	=आसुरी	**अधमाम्**	=अधम
माम्	=मुझे	**योनिम्**	=योनिको	**गतिम्**	=गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें
अप्राप्य	=प्राप्त न करके	**आपन्नाः**	=प्राप्त होते हैं,		
एव	=ही	**ततः**	=(फिर) उससे भी	**यान्ति**	=चले जाते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

कामः	=काम,	**त्रिविधम्**	=तीन प्रकारके	**तस्मात्**	=इसलिये
क्रोधः	=क्रोध	**नरकस्य**	=नरकके	**एतत्**	=इन
तथा	=और	**द्वारम्**	=दरवाजे	**त्रयम्**	=तीनोंका
लोभः	=लोभ—	**आत्मनः**	=जीवात्माका	**त्यजेत्**	=त्याग कर देना चाहिये।
इदम्	=ये	**नाशनम्**	=पतन करनेवाले हैं,		

विशेष भाव—भोग भोगना 'काम' है। संग्रह करना 'लोभ' है। भोग और संग्रहमें बाधा देनेवालेपर 'क्रोध' आता है। ये तीनों आसुरी सम्पत्तिके मूल हैं। सब पाप इन तीनोंसे ही होते हैं।

व्यक्ति और पदार्थ तो यहीं छूट जाते हैं, पर भीतरका भाव आसुर मनुष्योंको नरकोंमें ले जाता है।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**नरः**	=(जो) मनुष्य	**ततः**	=उससे
एतैः	=इन	**आत्मनः**	=अपने	**पराम्**	=परम
त्रिभिः, तमोद्वारैः	= नरकके तीनों दरवाजोंसे	**श्रेयः**	=कल्याणका	**गतिम्**	=गतिको
विमुक्तः	=रहित हुआ	**आचरति**	=आचरण करता है, (वह)	**याति**	=प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—'एतैर्विमुक्तः'—काम-क्रोध-लोभसे रहित होनेका तात्पर्य है—इनके त्यागका उद्देश्य रखना, इनके वशमें न होना। कामसे, क्रोधसे अथवा लोभसे किया गया शुभकर्म भी कल्याणकारक नहीं होता। इसलिये इनके त्यागकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। काम-क्रोध-लोभको पकड़े रहनेसे कल्याणका आचरण (जप, ध्यान आदि) करनेपर भी कल्याण नहीं होता; क्योंकि ये सम्पूर्ण पापोंके कारण हैं (गीता ३। ३७)।

काम-क्रोध-लोभके कारण धर्म और समाजकी मर्यादा नष्ट हो जाती है, जिससे दुनियाका बड़ा अहित होता है। आसुरी स्वभाववाले मनुष्य काम-क्रोध-लोभके परायण होते हैं। वे यज्ञ, दान आदि सब शुभकर्म नाममात्रके लिये करते हैं, अपने कल्याणके लिये कुछ नहीं करते। परन्तु दैवी सम्पत्तिवाले साधक काम-क्रोध-लोभके वशमें न होकर अपने कल्याणका आचरण करते हैं, जिससे दुनियाका स्वतः हित होता है। आसुरी मनुष्य ऐसे साधकोंको बेसमझ समझते हैं और इनसे द्वेष रखते हैं, पर इन साधकोंको उन आसुरी मनुष्योंपर दया आती है और वे उनको सद्बुद्धि देनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

यः	=जो मनुष्य	**सः**	=वह		(और)
शास्त्रविधिम्	=शास्त्रविधिको	**न**	=न	**न**	=न
उत्सृज्य	=छोड़कर	**सिद्धिम्**	=सिद्धि (अन्तः-करणकी शुद्धि)को,	**पराम्**	=परम
कामकारतः	=अपनी इच्छासे मनमाना	**न**	=न	**गतिम्**	=गतिको (ही)
वर्तते	=आचरण करता है,	**सुखम्**	=सुख (शान्ति) को	**अवाप्नोति**	=प्राप्त होता है।

विशेष भाव—आसुर मनुष्य अभिमानके कारण अपनेको सिद्ध और सुखी मानते हैं—'**सिद्धोऽहं बलवान्सुखी**' (गीता १६। १४), पर वास्तवमें वे सिद्ध और सुखी होते नहीं—'**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखम्**'। उनके हृदयमें अभिमान और द्वेषकी अग्नि जलती रहती है!

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

तस्मात् = अतः
ते = तेरे लिये
कार्याकार्यव्यवस्थितौ = कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें
शास्त्रम् = शास्त्र (ही)
प्रमाणम् = प्रमाण है
ज्ञात्वा = (—ऐसा) जानकर (तू)
इह = इस लोकमें
शास्त्रविधानोक्तम् = शास्त्रविधिसे नियत
कर्म = कर्तव्य-कर्म
कर्तुम् = करने
अर्हसि = योग्य है अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्यकर्म करने चाहिये।

विशेष भाव—सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि आसुर स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्यको नहीं जानते। यहाँ भगवान् बताते हैं कि वह आसुर स्वभाव शास्त्रके अनुसार आचरण करनेसे ही मिटेगा।

यहाँ शंका हो सकती है कि जो शास्त्र पढ़े हुए नहीं हैं, उनको कर्तव्यका ज्ञान कैसे होगा? इसका समाधान है कि अगर उनका अपने कल्याणका उद्देश्य होगा तो अपने कर्तव्यका ज्ञान स्वतः होगा; क्योंकि आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। अगर अपने कल्याणका उद्देश्य नहीं होगा तो शास्त्र पढ़नेपर भी कर्तव्यका ज्ञान नहीं होगा, उल्टे अज्ञान बढ़ेगा कि हम अधिक जानते हैं!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥